International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

'काला पहाड़' : साम्प्रदायिक सौहार्द की विरासत का दस्तावेज

डॉ० सतीश कुमार,
सहायक प्रोफेसर (गेस्ट फैकल्टी),
हिंदी (आई०एफ०पी०),
राज्य प्रदर्शन एवं दृश्यकला विश्वविद्यालय,
रोहतक (हरियाणा)

हमारा देश आज सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तनाव से गुजर रहा है। एक ओर जहाँ अनेक राजनीतिक पार्टियों द्वारा फैलाया जाने वाला जातिवाद है तो दूसरी ओर धार्मिक अल्पसंख्यकों के खिलाफ किया जाने वाला घृणित और जघन्य कुकर्म है। ''इस तनावपूर्ण माहौल में भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'काला पहाड़' सुकून तो देता ही है, यह जानकर तसल्ली होती है कि अभी बिलकुल अंधेरा नहीं हुआ है; रोशनी नजर आ रही है। इस समाज में प्रगतिशील चेतना से युक्त लोग मौजूद हैं, जो इस समाज को इन ताकतों से लड़ने का साहस रखते हैं। सलेमी (इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र) जैसे लोग इस समाज में मौजूद हैं जो निरंतर जातिवादी और संप्रदायवादी शक्तियों से संघर्ष कर रहे हैं।''1

हरियाणा का मेवात क्षेत्र इस उपन्यास की कथा–भूमि और कार्यक्षेत्र है। इसमें मेवात की भौगोलिक–सांस्कृतिक अस्मिता के साथ–साथ वहां मौजूद हिंदुस्तानी जीवन का सशक्त, मार्मिक और जीवंत चित्रण किया गया है। यहां हिन्दू–मुसलमान में कोई भेद नहीं है। यहाँ के गाँवों में धर्म, मजहब और जाति के नाम पर कोई भेदभाव नहीं है। यहां के लोगों में परस्पर प्रेम और सद्भाव है। हाँ कभी–कभी झगड़ा भी होता है लेकिन फिर कुछ समय बाद सभी एक धारा में बहने लगते हैं। यहाँ सब लोग अमन–चैन से रहते हैं। कहना गलत न होगा कि 'काला पहाड़' साम्प्रदायिक सौहार्द की विरासत का आख्यान है।

प्रस्तुत उपन्यास काला पहाड़ के साए में फैले एक ग्रामीण अंचल की कहानी मुसलमान मेव सलेमी के माध्यम से प्रस्तुत करता है जिसने भाईचारे से भरा अतीत देखा ही नहीं जिया भी था और असहिष्णु वर्तमान उसकी हर झुर्री में काँटों की तरह चुभता है। कहीं की रथयात्रा और कहीं टूटी बाबरी मस्जिद आक्रान्त हो उठी साझी संस्कृति और भाईचारे के प्रतीत जन अलग–अलग नफरत के पाले में पहुँच गए। जहां एक ओर साम्प्रदायिक दंगों की विभीषिका देखकर मन विचलित हो जाता है, वहीं साम्प्रदायिक–सौहार्द के प्रसंगों से रू–ब–रू होकर मन आश्वस्त भी होता है कि अभी भी कहीं–न–कहीं आशा की किरण है। साम्प्रदायिक माहौल में भी कुछ ऐसा विद्यमान है

जिससे मन को शांति मिलती है। समाज में अभी भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो साम्प्रदायिक सौहार्द बनाए रखने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। 'काला पहाड़' उपन्यास का पात्र 'सलेमी' कुछ ऐसा ही है। साम्प्रदायिक सौहार्द बनाए रखने के लिए वह अपने बेटे को भी लताड़ने से नहीं चूकता। साम्प्रदायिक सौहार्द बना रहे, इसके लिए सलेमी का पूरा जीवन–व्यवहार अवलोकनीय है।

एक प्रसंग में जब बाबू खाँ गुस्से में तमतमाते हुए यह कहता है कि ''माणस तो मरंगा ही . . . अरे, अजोध्या में हिन्दून्ने हमारी महजद गिरा दी तो कहा हम मुसलमान इनका मंदरन्ने ने भी ना लूटें।'' इसी बीच पता नहीं सलेमी बाबू नज़र बचाता हुआ कब उसके पास आ गया। आते ही पैर से पणहा निकाल कर उस पर तड़ातड़ बरसानी शुरू कर दी, ''तेऽ ऽरी बहाण की टाँट में दूँ . . . आयो मुसलमान का चोदो . . . बेटीचो कमीण . . . काफर का बिंद . . .।''2

जब तक बाबू अकबकाते हुए कुछ समझ पाता तब तक पता नहीं कितनी पणहा बाबू पर बरस चुकी थी ? अचानक इस घटना ने पूरा परिदृश्य ही बदल दिया। जो जहाँ था वहाँ से चुपचाप खिसक लिया। पूरे हुजूम में अफ़रा–तफ़री मच गई। सिवाय डॉक्टर शफ़ीक, हाजी अशरफ़, सुभान खाँ और बाबू के कोई नहीं बचा।

''अरे ओ फकीर का . . . मामा तोपे अपणो पेट तो भरो जाए ना है और चल दियो धूमस मचाण . . . तू टल जा मेरी आखन् के आगे सू नहीं तोहे हलाक कर दूँगो!'' सलेमी की आँखों में खून उतर आया।

अपने बाप के तेवर देखकर सुभान खाँ को लेकर चुपचाप चल दिया। डॉक्टर शफ़ीक़ और हाजी अशरफ़ भी धीरे–से वहाँ से खिसकने लगे तो सलेमी ने उन्हें भी धर दबोचा, ''अरे ओ डाकधर, तू काँई लू या गाँओं में आग लगान् लू डोले है . . . मोहे ऐसो लगे है या गाँओं को पाणी तोपे झिल ना रो है . . . तू अपणो जैसो इन मेवन्ने बनाण कू डोले है।''3

डॉक्टर शफ़ीक़ की हालत खराब हो गई। वहाँ खड़े पंद्रह–बीस लोगों में से कोई नहीं बोला। ''और असरप . . . वैसे तो हाजी बणो डोले है और वैसे यामें दुनिया भर का एब हैं . . . इस जैसान्ने या इलाका को माहौल खराब करके धर राखो है . . . अरे, जिन्ने तेरी महजद तोड़ी उनका मूँड ए जाके फोड़ो . . . इन बिचारन् सू कहा कहो हो . . . अन्यायी, तमन्ने थोड़ी–बहुत भी सरम ना आई के जिनके पै हम रात–दिन उठे–बैठे हैं उनका मंदरन् के कैसे हाथ लगाएँ . . . इन मूर्तिन्ने ही जाके कही है वा महजद ए गिरा देओ, काई कुआ में डूब मर हाजी असरप।''4 जमीन पर थूकते हुए सलेमी ने पणहा नीचे पटकी और पाँव में डालकर यह कहते हुए घर की ओर मुड गया, ''हाजी असरप, खुदा की मार सू डर।''

सलेमी जैसे बड़े–बूढ़ों की समझदारी से यह आग पूरे नगीना में फैलने से रुक गई, वरना हाजी अशरफ़ और डॉक्टर शफ़ीक़ ने तो कोई कसर छोड़ी नहीं। यह तो ग़नीमत है कि सिर्फ़ माता के मंदिर ने सारे वार अपने सीने पर झेल लिए, वरना अयोध्या में गिराए गए बे–क़सूर विवादित ढाँचे के बदले पता नहीं कितने और मंदिरों को ये वार झेलने पड़ते।

जब पूरा देश दंगे की आग में जल रहा था। आपसी विश्वास खत्म हो रहा था, उस समय भी कई लोग ऐसे थे, जिन्होंने साम्प्रदायिक सौहार्द की लौ को बुझने नहीं दिया। अपने दामन की ओट में रखकर भी उसकी हिफाजत की। गाँव–कस्बों के लोग इस मामले में कथित 'सभ्य–सुशिक्षित शहरी समाज' के लोगों से कहीं आगे रहे।

विजय बहादुर सिंह 'काला पहाड़' उपन्यास में वर्णित साम्प्रदायिक सौहार्द के संदर्भ में लिखते हैं– ''काला पहाड़ की छाया में बसे नोह, बड़कल, नगीना, घसिड़ा उपरलीधाँ और साकरस आदि गाँवों के सघन सामाजिक रिश्तों और बुनावटों को जीने और साकार करने वाले उन मेवातियों की कहानी कहता है जो सत्ता की राजनीति करने वालों से लगभग अप्रभावित रहकर, जब–तब उनकी विध्वंसक और सांप्रदायिक राजनीति का मुँहतोड़ जवाब देकर अपने पाठकों के मन में यह उम्मीद पैदा करता है कि धर्मवाद और सत्तावाद की टुच्ची राजनीति से कहीं बड़ी राजनीति है मानव–संबंधों की। न केवल सलेमी और छोटेलाल, बल्कि मनीराम जैसे पात्रों के मार्फत यह कहने की कोशिश की गई है कि वोट और सत्ता की राजनीति तब भी इस पारंपरिक सांस्कृतिक जीवन को मार नहीं पाएगी। उपन्यासकार ने एक जिद के तहत इस दृष्टिकोण को समूचे कथानक में न केवल विकसित किया है वरन् इसे रेखांकित भी करता चला गया है।''5

''छोटे लाल अपनी घरवाली सू कह आ फिकर ना करे . . . हम हैं तो सही हीन्।'' नबी खाँ ने भी हिम्मत बँधाते हुए कहा।

धीरे–धीरे पूरा चौधरी मोहल्ला मनीराम के बँगले में इकट्ठा हो गया।

''हरसाय, ऐसी कोई बात ना है . . . अभी हसैनदीन और सलेमी भी आ जाएगो।'' रोबड़ा बोला।

लेकिन उधर से किसी के मुँह से एक भी शब्द नहीं फूटा। सबको ऐसे लगने लगा जैसे धीरे–धीरे मारे प्यास के उनके हलक सूखे जा रहे हैं।

''अगर ढेड हीन् आगा न या मुहल्ला में, तो दारीकान्ने कच्चो चबा जाऊँगी।'' रमजानो का झर्रियों से पटा चेहरा मारे गुस्से के खिंचता चला गया।

''हरामीन्ने दराँती सू चीर के ना धर दूँगी जो या मुहल्ला में पाँव भी धर दियो तो . . .।'' तरकीला ने घूँघट के पीछे से ही तमतमाते हुए कहा। उसके हाथों में हलकी–हलकी जुंबिस–सी होने लगी।''6 . . . ''हाँ–हाँ वही . . . वाकी ऐसी छूछ उतारी है के बेट्टा जिंदगी भर याद रखोगे . . . अरे, इन जैसा आदमीन्ने या गाँओं और इलाका को माहौल खराब कर राखो है . . . एक ऊ हाती असरप है . . . अन्यायी, वैसे तो पाँच–पाँच हजार रुपिया खैरात में देतो डोले है . . . और वैसे सारे दिन नीत हराम में धरी रहवे है . . . मजाल है कदी कोई ढंग को तो काम करो होए।'' मुस्कुराते हुए सलेमी बोला।7

सलेमी हर प्रकार से मेवों की संस्कृति, हिन्दू–मुस्लिम एकता को बचाने का प्रयास जीवनपर्यन्त करता है। यही कारण है कि नगीना को लूटने आए अपने ही धर्म भाइयों के खिलाफ वह खड़ा रहता है। अपने बेटे को पीटता है। तेजी से हिन्दू–मुस्लिमों के बीच बढ़ती अलगाव विभाजन की भावना सलेमी को चिन्तित करती है इसलिए वह मनीराम, हरसाय, बुद्धन, रोबड़ा, छोटेलाल के साथ उनकी हिफाजत करती दिखाई देती है।

हमारे समाज में सलेमी के अलावा लीला और जगनी जैसे समझदार लोग भी मौजूद हैं, जो साम्प्रदायिक सौहार्द की विरासात को सहेजकर रखते हैं। सलेमी, लीला, जगनी जैसे लोग साम्प्रदायिक ताकतों के जाल में नहीं फँसते। इस प्रकार के लोग हमारे समाज के सजग प्रहरी हैं। इसकी पुष्टि उपन्यास में वर्णित चुनाव के दौरान की घटना के आधार पर की जा सकती है। जब लाला ज्ञानचन्द जैन अपने शातिर इरादों को लेकर जगनी के घर पहुँचता है और हिंदू अस्मिता के नाम पर नगीना के सरपंच के रूप में मानक बनिया को चुनने के लिए साम्प्रदायिक राजनीति का खेल खेलते हैं। चूंकि जगनी पूरा सजग और सचेत नागरिक है और वह जानता है कि हिन्दू उनका उपयोग किस प्रकार करते हैं। इसलिए वे भोलेपन में ही उन्हें जवाब देते हैं। वह कहता है, ''सेठ जी, पिछले कई साल सू ई मानक सरपंच बनतो आ रो है तो अब की बार कोई मेव ही सही . . . अरे, मिल–बाँट के खाना सू बढ़िया बात तो कोई हैई ना . . . और फिर मानक ने हर बार को कोई ठेका थोड़े ही ले राखो है . . . सेठ जी, इससे क्या फरक मारे है . . . सरपंच तो सरपंच है चाहे ऊ मेव होए या हिन्दू।''8 जगनी की बातों को सुनकर ज्ञानचन्द जैन परेशान होता है और वह दलितों में गलत बातों का विचार फैलाता है। पहले वह दलितों को हिन्दू के ओछे हिन्दूपन से जोड़ता है क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि दलितों को चमार, जाटव कहने से हिन्दू कहना उपयुक्त होता है। इससे एक तो उनके जाति अहंभाव को बरकरार रखा जा सकता है और दूसरा उनके श्रेष्ठ होने को पुष्ट किया जा सकता है। उन्हें अपने जैसा बनाकर लड़ने के लिए प्रेरित किया

जाता रहा है। लेकिन ज्ञानचन्द जैन जैसे हिन्दुओं के खोखलेपन को लेखक व्यक्त करता है, ''हम हिन्दुओं में यही तो सबसे बड़ी कमजोरी है कि हम अपनों और दूसरों में कोई फरक नहीं देखते हैं . . . इसी सोच के कारण हम हिन्दुओं की आज यह हालत हो री है . . . तू तो इस दिल्ली में आ बसा है न . . . तेरी बला से इलाके में कुछ भी होए . . . पर उनकी सोच जो आज इस दूसरे पाकिस्तान में पड़े हुए हैं . . . और फिर ये देस हिन्दुओं का है, हमारा है, तेरा है . . .।''9 फिर भी जगनी को ज्ञानचन्द जैन की बातें समझ में नहीं आती हैं। ऐसे में ज्ञानचन्द जैन मन ही मन अपने को, गाँधी को कोसता है कि मैंने क्यों गाँधी की सूक्तियों का सहारा लिया। और वह अपने अंतिम शस्त्र का इस्तेमाल करते हुए कहता है– ''जगनी, इसमें हिंदुओं की नाक का सवाल है . . . चौधरी मुरसीद अहमद ने हाजी असरफ की कचैड़ी में मेवन् से साफ कह दी है कि अगर अबकी बार नगीना में हिन्दू सरपंच हो गया न, तो हम मुसलमानों के लिए इससे बड़ी शरम की बात और कोई नहीं होगी . . . हमें चुल्लू भर पानी में डूब के मर जाना होगा . . . और जगनी तोहे पतो है, सारे मेवन्ने जभी कुरान पे हाथ धर के कसम खा ली कि खुदा ने चाही तो चौस्साब अबके सरपंच बनेगो हाजी असरफ ही . . .।''10

. . . ''यार, सेठ जी के अपनी ऐसी–तैसी कराए . . . और फिर मैं क्या अपने लिए कर रहा हूँ ये सब . . . मेरे यार, ये तो पूरे हिन्दू समाज का फैसला है . . . अरे, जब इस देस में हिन्दू ही ना रहेगा तो यह देस कैसे रहेगा और फिर तुम जैसे लोग ही ऐसा सोचोगे तो औरों की क्या कहें।'' इस बार लाला ज्ञानचंद सीधा–साधा प्रवचन देने पर उतर आया, इसलिए भाषा भी एकदम महापुरूषों वाली हो गई।

इस प्रकार राजनीतिक लोग अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेकने के लिए राजनीतिक खेल खेलते हैं और साम्प्रदायिक सौहार्द को नष्ट करने की कोशिश करते रहते हैं। चाहे वह चौधरी करीम हुसैन हों, चाहे चौधरी मुर्शीद अहमद हों या लाला अभयचन्द आर्य या लाला ज्ञानचंद जैन हों। वे चाहते हैं कि हिन्दू मेवों के बीच साम्प्रदायिक संघर्ष हो। सलेमी हिन्दुत्ववादियों की प्रत्येक चाल को बखूबी समझता है। इसीलिए वह रोबड़ा से कहता है, ''अन्यायी, ये यही तो चाहते हैं कि या इलाका में दो–चार माणस मरताँ रहँ . . . हिन्दू मेव आपस में लड़ता रहँ जासू इनकी पौ बारह होता रहँ।''11

दलित युवक लाला ज्ञानचंद जैसे हिन्दुत्ववादियों की पूरी खबर लेते हैं। क्योंकि वे आज अज्ञानी, अन्धे नहीं हैं, न ही वे उस ढोल की तरह हैं कि कोई भी आवे और बजावे। इन सारी बातों को लीला और उसके साथी व्यक्त करते हैं। वे इन राजनेताओं के राजनीतिक दाँव–पेंचों को अच्छी

तरह समझते हैं। तभी तो लाला ज्ञानचंद जैन के चले जाते ही लीला कहता है, '' देख ली, ये हमारे हिमायती बन के आए हैं . . . ये लोग हमारी गारंटी . . . आज ई हिन्दू परिसद् हमारी गारंटी दे रो है . . . और इन मुसलमानन् को कोई भरोसा ना है . . . इनको मगज खराब हो रो है जो ये खून–खच्चर करेगा . . .।''

''सही बात ई है चाचा लीला के ये हमारी गारंटी देन ना आया हैं . . . ये तो अपनी गारंटी लेण आया हैं . . . आज या हिन्दू परिसद ए हमारी याद आई है . . . अरे, फटती में ही याद आवे हैं सब . . .। एक युवा चेहरे ने मुस्कराते हुए व्यंग्य किया।

''और हाँ ये भी तो कह रा हा कि एकाध बिंदूक–विंदूक की जरूरत पड़े तो हम पहुँचा देंगा . . . वा बेटा अभयचंद, दूसरान् का कंधा पेई बिंदूक चलाणी सीखी है . . . हैं तो चलाएँ अपने आप बिंदूक . . .।'' लीला विद्रूप हँसी हँसते हुए कहा।

''चाचा लीला, ये बणिया–बामण अभी भी यही समझ रा हैं के इनके बदले हम जैसी छोटी–मोटी जात लड़ती फिरें . . . ये तो हमन्ने अभी भी बावला समझे बैठा हैं।'' अँगीठी के पास बैठे उसी चेहरे ने फिर कहा।12

दलित अब किसी भी कीमत पर अपने आपको दूसरे के हाथों की कठपुतली बनने से बचता है। यह चेतना उनके आई है, लेकिन फिर भी ब्राह्मण–बनिया अर्थात् हिन्दू जाति व्यवस्था में किसी–न–किसी जाति को बहला–फुसलाकर मुसलमानों के विरूद्ध लड़ने को तैयार करती हैं। जब चमार इन नेताओं की दाल नहीं गलने देते तो ये कुम्हारों के पास चले जाते हैं और कुम्हारों के सामने चमारों को गाली देते हैं। कुम्हारों के मन में विश्वास पैदा होता है कि हम चमारों से अधिक इनके विश्वासपात्र हैं। नजदीक हैं, इसलिए ''पूरे कुम्हारों ने इनकी बातों को न केवल ध्यान से सुना बल्कि उनको अमल में लाने का पूरा आश्वासन भी दिया। बंदूक–तमंचों की यदि जरूरत पड़ी, तो ये उन्हें भी हस्तगत करने में नहीं हिचकिचाएँगे।''13

लाला अभयचन्द और बिसंबर मात्र अपनी कुटिल चालों की जीत पर गर्व करते हैं। अभयचंद आर्य से बिसंबर सन्नार्थी कहता है– ''लाला अभयचंद, देख लिया कि लोहा कैसे लोहे को काटता है।''

''सही है बिसंबर, अगर तू इन कुम्हारों के सामने चिमारों की बुराई नहीं करता न, तो मजाल है कि ये ससुरे लेन में आ जाते।''

''चल यार, अब कम से कम यह तसल्ली तो होगी कि छः दिसम्बर को अगर कोई गड़बड़ हुई तो ये कुम्हार तो हैं . . . और फिर वैसे भी हमारे नजदीक कुम्हारवाड़ा ज्यादा है . . . चिमरवाड़ा तो वैसे भी घनी दूर है।''

''सही है चिमार न सही, कुम्हार तो है।''14

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि ''सलेमी जैसे पात्रों को चित्रित कर लेखक ने जो स्वप्न बुना है, वह हमारे राजनीतिक समय को सांस्कृतिक या मूल्य–समय में बदलने की कोशिशें करता है। सवाल उठाया जा सकता है कि सलेमी जैसे पात्रों की मृत्यु दिखाकर लेखक ने कहीं अपनी नाउम्मीदी तो प्रदर्शित नहीं कर दी है। इसके उत्तर में देखना यह होगा कि दफनाया जा चुका सलेमी भी अंततः हम पाठकों की चेतना में एक लाइट–हाउस की तरह अपने प्रकाश फेंक रहा है। किसी भी पात्र की मृत्यु से उसके विचारों की मृत्यु का निष्कर्ष नहीं लिया जा सकता बल्कि कभी–कभी तो मृत्यु भी ऐतिहासिक संदेश छोड़ जाती है। उपन्यास इसी रूप में संदेशवाही रचना है।''15

संदर्भ सूचीः–

1. सत्यकाम्, यह आंचलिक नहीं है, समीक्षा (पत्रिका), अक्टूबर–दिसम्बर 1999, पृ० 17
2. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, पृ० 422
3. वही, पृ० 422
4. वही, पृ० 423
5. विजय बहादुर सिंह, उपन्यास : समय और संवेदना, पृ० 221
6. भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, पृ० 424
7. वही, पृ० 426
8. वही, पृ० 383–384
9. वही, पृ० 384
10. वही, पृ० 385–386
11. वही, पृ० 163
12. वही, पृ० 406–407
13. वही, पृ० 407
14. वही, पृ० 408
15. विजय बहादुर सिंह, उपन्यास : समय और संवेदना, पृ० 221